विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,

अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण
प्रथम 2025

ISBN : 978-81-993854-0-5

मूल्य - 400/-

रचना - विचार संगम-भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

18

अथर्ववेद में खेल, संगीत एवं नृत्य

राहुल कुमार
शारीरिक शिक्षक
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

अथर्ववेद में मानव जीवन के मनोरंजन और आमोद-प्रमोद के विविध रूपों का सुंदर वर्णन मिलता है। वेदों में जीवन को केवल कर्मकांड या आध्यात्मिक साधना तक सीमित नहीं रखा गया, बल्कि उसमें आनंद, हर्ष और क्रीड़ा के तत्वों को भी समान महत्त्व दिया गया है।

'क्रीड़ा' शब्द का अर्थ है—आमोद-प्रमोद के लिए किया जाने वाला कार्य। यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में विविध प्रकार की क्रीड़ाओं का उल्लेख मिलता है। वहाँ 'क्रीड़ा' शब्द का प्रयोग खेलों और शारीरिक गतिविधियों के लिए किया गया है, जबकि 'मोद' शब्द मनोरंजन या प्रसन्नता के साधनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में मन और शरीर दोनों की प्रसन्नता के लिए विविध प्रकार की गतिविधियाँ प्रचलित थीं।

बाल-क्रीड़ा :

अथर्ववेद में सूयजू (सूर्य) और चन्द्रमा को बालक के समान बताया गया है, जो आकाश में घूमकर मानो बालकवत् क्रीड़ा कर रहे हों। यह प्रतीकात्मक चित्रण वेदकालीन चिंतन की सजीवता को दर्शाता है। इसी प्रकार, दम्पत्तियों का अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ हास्य-विनोद और खेल-कूद में संलग्न होना भी उल्लिखित है। यह परिवार के स्नेह, प्रेम और हर्षपूर्ण वातावरण की अभिव्यक्ति है, जिससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्य समाज में बाल-उत्सव और पारिवारिक मनोरंजन को महत्त्व दिया जाता था।

घुड़दौड़ (अश्वक्रीड़ा):

वेदकालीन समाज में घुड़सवारी और घोड़ों की दौड़ अत्यंत लोकप्रिय थी। इन प्रतियोगिताओं को 'आजि' कहा जाता था। इस दौड़ में पुष्ट, प्रशिक्षित और शक्तिशाली घोड़ों को लगाया जाता था। जो घोड़ा दौड़ में सबसे आगे आता था, उसे पुरस्कार दिया जाता था। इससे यह ज्ञात होता है कि वेदकालीन युग में न केवल मनोरंजन के लिए, बल्कि वीरता, कौशल और शारीरिक बल के प्रदर्शन के लिए भी ऐसी प्रतियोगिताएँ आयोजित होती थीं।

दौड़ के मैदान को 'काष्ठा' या 'सप्त्य' कहा गया है। यह मैदान विशेष रूप से तैयार किया जाता था। उसकी लम्बाई और चौड़ाई नापी जाती थी, जिससे निष्पक्ष प्रतियोगिता हो सके। इससे यह स्पष्ट होता है कि वेदकालीन लोग खेलों में अनुशासन, नियम और संगठन के प्रति सचेत थे।

रथ-दौड़ (रथक्रीड़ा):

वेदकालीन युग में रथ-दौड़ एक अत्यंत लोकप्रिय और प्रतिष्ठित क्रीड़ा थी। इस खेल में अच्छे और पुष्ट घोड़ों से जुते हुए रथ भाग लेते थे। यह केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं, बल्कि युद्धकौशल और वीरता की परीक्षा का माध्यम भी था। प्रतियोगिता के लिए विशेष रूप से निर्मित रथों का उपयोग किया जाता था, जिनके संचालन में कुशल सारथी (रथचालक) अपनी निपुणता का प्रदर्शन करते थे।

रथ-दौड़ का आयोजन बड़े उत्सवों, यज्ञों या सामाजिक अवसरों पर होता था। इसमें वे रथ विजयी माना जाता था जो सबसे पहले निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचता था। विजेता रथ और उसके सारथी को पुरस्कार दिया जाता था, जिससे उसकी वीरता और कौशल का सम्मान किया जा सके। यह क्रीड़ा शौर्य, चातुर्य और गति के अद्‌भुत समन्वय का प्रतीक थी।

दौड़ (पदयात्रा या शीघ्रगमन प्रतियोगिता):

अथर्ववेद और अन्य वेदों में मनुष्य की दौड़ अथवा पदस्पर्धा का भी उल्लेख मिलता है। ये दौड़ें छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की होती थीं। उनमें प्रतिभागी अपनी शारीरिक शक्ति, सहनशीलता और वेग का प्रदर्शन करते थे। ऐसी प्रतियोगिताओं को सफलता और विजय के प्रतीक के रूप में देखा जाता था।

वेदों में उल्लेख है कि प्रतियोगी देवताओं से विजय के लिए प्रार्थना करते थे—इससे यह भाव प्रकट होता है कि उस समय खेल-कूद को भी ईश्वरीय अनुग्रह और धर्मसंगत कार्य माना जाता था। दौड़ में विजयी व्यक्ति को सम्मानित किया जाता था, और यह विजय केवल शारीरिक बल का नहीं, बल्कि मनोबल, संकल्प और उत्साह का भी प्रतीक मानी जाती थी।

अक्ष (द्यूतक्रीड़ा /जुआ):

वेदकालीन समाज में 'अक्ष' अथवा 'द्यूत' नामक खेल, जो आगे चलकर जुआ कहलाया, का भी उल्लेख मिलता है। यह क्रीड़ा प्रारंभ में एक सामान्य मनोरंजन के रूप में प्रचलित थी, परन्तु कालांतर में इसे विनाशकारी प्रवृत्ति के रूप में देखा गया।

'अक्ष' शब्द का अर्थ है—पासा या गिट्टी, जो इस खेल का मुख्य उपकरण था। अथर्ववेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन पासों का वर्णन विस्तृत रूप से मिलता है। ये पासे सामान्यत: विभीदक (बहेड़ा) के बीजों से बनाए जाते थे। उनका रंग 'बभ्रू' (भूरा या सांवला) कहा गया है। द्यूत में उपयोग होने वाले पासों की संख्या 53 बताई

गई है।

एक से पाँच तक के पासों को 'अय' कहा जाता था। इनमें से चार पासों को 'कृत' कहा गया है, जो विजय का सूचक माना जाता था। जो खिलाड़ी 'कृत' पासा प्राप्त करता था, वह विजयी होता था। इस प्रकार 'कृत' को सौभाग्य और सफलता का प्रतीक माना गया।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाँच पासों का उल्लेख है— अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर और कलि, जबकि यजुर्वेद में चार पासों के नाम बताए गए हैं—अक्षराज, कृत, त्रेता और द्वापर। इन नामों से स्पष्ट है कि बाद में इन्हीं के आधार पर युगों के नाम भी स्थिर हुए।

जूए के खिलाड़ी को 'श्वघ्नी' और 'कितव' कहा गया है, जबकि प्रतिस्पर्धी जुआरी को 'प्रतिकितव' कहते थे। जो व्यक्ति द्यूत में अत्यधिक निपुण होता था, उसे 'अतिदीवन' कहा गया है। वह 'कृत' पासे के प्रयोग में दक्ष माना जाता था।

यद्यपि यह खेल एक समय आमोद-प्रमोद और कौशल का प्रतीक था, परंतु वेदों में इसके विनाशकारी परिणामों की भी चेतावनी दी गई है। द्यूत में आसक्त व्यक्ति अपने परिवार, धन, और समाज की प्रतिष्ठा खो देता है। अथर्ववेद में इसे इस प्रकार वर्णित किया गया है कि— "जिस प्रकार विद्युत् (बिजली) वृक्ष को जला देती है, उसी प्रकार द्यूत में आसक्ति मनुष्य का सर्वनाश कर देती है।"

यह उपमा स्पष्ट करती है कि द्यूत को केवल भौतिक हानि नहीं, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक पतन का कारण भी माना गया।

मृगया (शिकारक्रीड़ा):

वेदकालीन समाज में मृगया अर्थात् शिकारक्रीड़ा का विशेष महत्त्व था। इसमें मृगों (हिरणों) तथा अन्य वन्य जीवों के शिकार का उल्लेख मिलता है। शिकारी को मृगयु कहा गया है। यह क्रीड़ा केवल मनोरंजन का साधन नहीं थी, बल्कि इससे मनुष्य अपनी शारीरिक क्षमता, लक्ष्यसाधन, साहस और त्वरित निर्णय-शक्ति का अभ्यास करता था। मृगया को वीरता, धैर्य और दक्षता की परीक्षा के रूप में भी देखा जाता था। वेदों में शिकारी के धनुष, बाण और घोड़ों का उल्लेख मिलता है, जो इस कला के व्यवस्थित और प्रचलित रूप का द्योतक है।

धनुर्विद्या (बाणक्रीड़ा):

धनुर्विद्या अथवा बाणक्रीड़ा वेदकालीन युद्धकौशल का एक मुख्य अंग थी। योद्धा धनुष-बाण से एक-दूसरे पर प्रहार करते थे और साथ ही स्वयं का बचाव भी करते थे। यह केवल युद्ध के लिए नहीं, बल्कि क्रीड़ा के रूप में भी अभ्यास किया जाता था। धनुर्विद्या में गति, लक्ष्यभेदन और आत्मसंयम का विशेष महत्त्व था। इस प्रकार की क्रीड़ाएँ सैनिक प्रशिक्षण, आत्मरक्षा और सामर्थ्य के प्रदर्शन के साधन के

रूप में देखी जाती थीं।

मल्लयुद्ध (कुश्ती):

मल्लयुद्ध वेदकालीन युग की सबसे प्रमुख शारीरिक प्रतियोगिताओं में से एक थी। इसमें दो प्रतियोगी आमने-सामने होकर शारीरिक बल, चपलता और कौशल से एक-दूसरे को पराजित करने का प्रयत्न करते थे। जो प्रतियोगी थक जाता था या भूमि पर गिर जाता था, वह पराजित माना जाता था। विजयी मल्ल को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। अधिक बाहुबल वाले व्यक्ति को बाहुशधी कहा गया है। मल्लयुद्ध से शरीर की शक्ति, सहनशीलता और आत्मबल का विकास होता था, जिससे यह खेल केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि व्यायाम और स्वास्थ्य साधना का भी माध्यम था।

मुष्टियुद्ध (घूंसेबाजी):

मुष्टियुद्ध का अर्थ है—घूंसे से युद्ध करना। यह आधुनिक बॉक्सिंग* के समान था। अथर्ववेद में इसका उल्लेख मिलता है कि देवता इन्द्र ने असुर वृत्र का वध मुष्टियुद्ध में किया था। इससे यह स्पष्ट है कि यह केवल मानव क्रीड़ा ही नहीं, बल्कि देवासुर संग्रामों में भी इसका प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है। मुष्टियुद्ध में शारीरिक शक्ति के साथ-साथ संतुलन, गति और साहस की भी परीक्षा होती थी।

संगीत और नृत्य

वेदकालीन जीवन में संगीत और नृत्य का विशेष स्थान था। उस समय संगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि ईश्वर-स्तुति, यज्ञीय अनुष्ठानों और सामाजिक उत्सवों का अभिन्न अंग था। संगीत के माध्यम से आर्यजन अपने हर्ष, भक्ति और भावों की अभिव्यक्ति करते थे।

अर्थशास्त्र के अनुसार संगीत के चार प्रमुख अंग बताए गए हैं—

1. नृत्य (शरीर की लयात्मक गति),
2. गीत (स्वर और शब्द का समन्वय),
3. वादित्र / वाद्य (संगीत वाद्ययंत्रों का प्रयोग), तथा
4. नाट्य/अभिनय (भावों की अभिव्यक्ति और अभिनय)।

इन चारों अंगों की पूर्णता में ही संगीत को पूर्ण संगीत कहा गया है। यदि इनमें से किसी एक की भी कमी हो, तो संगीत अपूर्ण माना जाता था।

अथर्ववेद में संगीत के तीन अंग—नृत्य, गीत और वाद्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वेदकालीन समाज में संगीत एक विकसित कला थी। नृत्य को भावाभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है, गीत को भावों की वाणी और वाद्ययंत्रों को उसकी लय और गति का आधार बताया गया है।

इसके अतिरिक्त नाट्य या अभिनय का भी एक स्थान पर संकेत मिलता है, जो यह सिद्ध करता है कि रंगमंचीय प्रस्तुति या अभिनयकला का प्रारंभिक रूप उस

समय विद्यमान था।

यजुर्वेद में भी इन चारों तत्त्वों—गीत, वाद्य, नृत्य और अभिनय का उल्लेख प्राप्त होता है। यज्ञों और धार्मिक अनुष्ठानों में स्तोत्रों का गायन, वीणा, डुण्डुभि, मृदंग आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग और देवताओं की स्तुति में लयबद्ध नृत्य का वर्णन मिलता है।

वेदकालीन संगीत केवल कला नहीं, बल्कि साधना था। इसका उद्देश्य मनुष्य को आनंद, एकाग्रता और ईश्वरीय भाव से जोड़ना था। नृत्य और संगीत के माध्यम से वेदकालीन समाज में सामूहिकता, उल्लास और भावात्मक एकता का वातावरण बनता था।

वाद्य (संगीत यंत्र)

वेदकालीन भारत में संगीत का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग वाद्य था। वाद्ययंत्रों का उपयोग न केवल आमोद-प्रमोद या नृत्य के अवसरों पर किया जाता था, बल्कि युद्ध, यज्ञ, धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान था। अथर्ववेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ग्रंथों में विभिन्न वाद्ययंत्रों के नाम और उनके उपयोग का उल्लेख मिलता है।

(1) दुन्दुभि : अथर्ववेद में दुन्दुभि का अनेक स्थलों पर वणज़्न प्राप्त होता है। यह एक बड़ा नगाड़े जैसा वाद्य था, जिसे वीरों को उत्साहित करने और युद्ध के समय सेना को चेतावनी देने के लिए बजाया जाता था। दुन्दुभि की ध्वनि सुनकर योद्धाओं में उत्साह, हर्ष और उमंग का संचार होता था। यह वाद्य मुख्य रूप से युद्धघोष और सैन्य-प्रेरणा का प्रतीक था। दुन्दुभि को वीरता का वाद्य कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी गूंज रणभूमि में वीरों के हृदय को उद्दीप्त कर देती थी।

(2) वीणा :- वीणा प्राचीन भारत का सर्वाधिक प्रमुख तारवाद्य था। वेदों में इसके लिए कक्री या ककृतिक शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों में वीणा के लिए गोधा शब्द भी मिलता है।

एक मंत्र में वर्णन है कि— ''इन्द्र की स्तुति करते समय गोधा (वीणा) बज रही थी, गग्रा (तंबूरा) ने स्वर मिलाया और पिंगा (विशेष वाद्य) की तन्त्रियों ने मधुर ध्वनि उत्पन्न की।''

यह चित्रण एक संगीत-सभा (गोष्ठी) का परिचायक है, जिसमें अनेक वाद्ययंत्रों का समवेत प्रयोग किया जाता था।

यजुर्वेद में भी वीणावादन का उल्लेख है, और 'महस्' अर्थात् आनंदोत्सव के अवसरों पर वीणा बजाई जाती थी।

ऐतरेय आरण्यक में वीणा के अंगों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो इसकी तकनीकी परिपक्वता को दर्शाता है— बालयुक्त चर्मावरण (तार ढकने का

भाग), शिरस् (शीर्ष भाग), उदर (मध्य भाग), अम्भण (ध्वनि-पट्ट या गूंजने वाला भाग),

तन्त्र (तार), वादन (मिजराब या उंगली पर पहनने वाली अंगूठी)।

यजुर्वेद में वीणा वादक को वीणावाद कहा गया है, और तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे वीणागाथिन् कहा गया है, अर्थात् वह व्यक्ति जो वीणा बजाते हुए गान भी करता था।

(3) शंख :- शंख भी एक प्रमुख फूंकमार वाद्य था, जिसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों, युद्ध घोषों और विजय के प्रतीक के रूप में होता था। शंख बजाने वाले को शंखध्म कहा गया है। इसकी ध्वनि शुभ, प्रेरणादायक और पवित्र मानी जाती थी। शंख का प्रयोग आज भी आरती, यज्ञ और पूजा में होता है, जिससे इसकी प्राचीनता और धार्मिक महत्ता सिद्ध होती है।

(4) तूणव :- तूणव एक ऐसा वाद्य था जिसे फूंक मारकर बजाया जाता था। यजुर्वेद में इसका उल्लेख मिलता है। यह वाद्य संभवतः शहनाई या तुरही जैसा था।

इसके वादक को तूणवध्म कहा गया है। इस वाद्य का प्रयोग विशेष रूप से उत्सवों, नगर-प्रवेश, युद्ध या विवाह अवसरों पर किया जाता था।

(5) तलव :- तलव वह वाद्य था जो तालवाद्य वर्ग में आता है। यह आज के ढोलक या तबले के समान था। इस वाद्य को हाथ से ठोककर बजाया जाता था, इसलिए इसके वादक को पाणिघ्न (हाथ से प्रहार करने वाला) कहा गया है। तलव का उपयोग नृत्य, गीत और आमोद-प्रमोद के अवसरों पर होता था। यह लय और ताल का आधार प्रदान करता था, जिससे संगीत की गति और सामंजस्य बना रहता था।

गान (सामवेद और वैदिक संगीत परम्परा)

गान का सम्बन्ध मुख्य रूप से सामवेद से माना गया है। सामवेद को वेदों में संगीत का प्रधान स्रोत कहा गया है क्योंकि इसमें मंत्रों को लय, ताल और स्वर के माध्यम से गाने की परंपरा विकसित हुई थी। सामवेद के दो मुख्य भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक।

पूर्वार्चिक में अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं से सम्बद्ध मंत्र संकलित हैं। इन मंत्रों में सामगान की दृष्टि से प्रत्येक मंत्र की लय और उच्चारण का स्मरण आवश्यक होता था। यह केवल पाठ नहीं बल्कि गान के रूप में किया जाता था।

उत्तरार्चिक भाग में इन मंत्रों का प्रयोगिक रूप मिलता है, जिसमें द्विक (दो मंत्रों का समूह), त्रिक (तीन मंत्रों का समूह) और चतुष्क (चार मंत्रों का समूह) आदि रूपों में सामगान किया जाता था। इस प्रकार सामगान की संरचना क्रमबद्ध,

सुसंगठित और लयात्मक होती थी।

गान करने वाले व्यक्ति को सामग कहा जाता था, और वेदविधानों के अनुसार उद्गाता वह सामवेदीय पुरोहित होता था जो सामगान का संचालन करता था। अथर्ववेद में 'सामग' शब्द का उल्लेख उन व्यक्तियों के लिए हुआ है जो सामगान करते थे।

सामगान में छन्दों की विशेष भूमिका थी। ऐतरेय आरण्यक में सामगान के लिए तीन प्रमुख छन्द बताए गए हैं—गायत्री, उष्णिह और बृहती।

* गायत्री छन्द में 8-8-8 वर्णों के तीन पाद होते हैं, अर्थात कुल 24 वर्ण।
* उष्णिह छन्द में 8-8-12 वर्णों के तीन पाद होते हैं, कुल 28 वर्ण।
* बृहती छन्द में 8-8-12-8 वर्णों के चार पाद होते हैं, कुल 36 वर्ण।

तीन मंत्रों के समूह को तृच कहा जाता है। प्रत्येक छन्द में ऐसे 80 तृच होते हैं। इस प्रकार कुल 80 × 3 = 240 मंत्र प्राप्त होते हैं जिन्हें तृचाशीति कहा गया है। इसे सामगान के 240 भेदों का संकेत माना गया है।

इन छन्दों का सम्बन्ध विभिन्न देवताओं से माना गया है—गायत्री का आदित्य से, उष्णिह का वसु से और बृहती का अंगिरस् से। यह सम्बन्ध यह दर्शाता है कि संगीत केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं थी, बल्कि देवोपासना और आत्मिक साधना का माध्यम भी थी।

वेदकालीन काल में गान का उद्देश्य मनोरंजन नहीं बल्कि अध्यात्मिक उन्नति था। सामगान के माध्यम से मनुष्य अपने स्वर, लय और भावना को परमात्मा की उपासना में समर्पित करता था। यह गान प्रणाली भारतीय संगीत की मूल प्रेरणा बनी और आगे चलकर शास्त्रीय संगीत का आधार बनी।

गाथा :

अथर्ववेद में गाथा शब्द का अनेक बार उल्लेख मिलता है। गाथा का अर्थ गेय (गाए जाने योग्य) पद्यों में रचित किसी बृहत् आख्यान या कथा से होता है। ऋग्वेद में गाथा गाने वालों को गाथानी, गाथानेतृ और ऋजुगाथ कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि गाथा का गान केवल काव्य-पाठ नहीं, बल्कि लय, छन्द और भाव की समरसता के साथ किया जाता था।

ऐतरेय ब्राह्मण में ऋचा और गाथा में स्पष्ट भेद किया गया है—

'देवी रचना ऋचा है और मानवीय कृति गाथा है।'

अर्थात् ऋचा (ऋग्वेदिक मंत्र) दैवी प्रेरणा से उत्पन्न मानी जाती थी, जबकि गाथा मनुष्यों द्वारा रचित कथात्मक या लौकिक पद्य होते थे।

शुनः शेप के प्रसंग में 'शतगाथम्' (सौ गाथाओं वाला) उल्लेख मिलता है, जिससे यह संकेत मिलता है कि गाथाएँ प्रायः लंबी और आख्यानात्मक होती थीं। यद्यपि इनका धार्मिक वातावरण था, फिर भी इन्हें वैदिक मंत्रों के समान पवित्र या

वैध नहीं माना गया; इसलिए इन्हें अवैदिक होते हुए भी धार्मिक (धार्मिक आख्यान) माना गया। गाथाओं को गाने वाले व्यक्ति को गाथिन् या गाथी कहा गया है, जो इन गीतों को सुन्दर लय में प्रस्तुत करते थे।

नाराशंसी :

नाराशंसी शब्द 'नराशंस' (मनुष्य की प्रशंसा करने वाला) से बना है। यह गाथा का ही एक उपभेद है। मनुष्यों, विशेषकर राजाओं, नायकों या वीरों की प्रशंसा में गाए गए स्तोत्रों को नाराशंसी कहा गया।

अथर्ववेद में नाराशंसी का तीन बार उल्लेख हुआ है और इसे गाथा से पृथक् माना गया है। जहाँ गाथा एक व्यापक शब्द है जिसमें धर्म, कथा, आख्यान आदि सभी गेय रूप शामिल हैं, वहीं नाराशंसी विशेष रूप से वीरगाथाओं या मानवीय प्रशंसा गीतों तक सीमित है। नाराशंसी परम्परा से ही आगे चलकर राजस्तुति और वंशावली गाने वाले चारण, मागध और भाट परम्परा का विकास हुआ।

रैभी :

रैभी, नाराशंसी का एक उपभेद है। 'रैभ' शब्द का अर्थ गायक होता है, और उससे सम्बद्ध जो पद्य गाए जाते थे, उन्हें रैभी कहा गया है। अथर्ववेद में 'रैभ' शब्द तीन बार तथा 'रैभी' शब्द एक बार प्रयुक्त हुआ है।

रैभी गेय पद्य विशेष रूप से राजा की स्तुति, वीरता वर्णन या विवाहादि उत्सवों के अवसर पर गाए जाते थे। अथर्ववेद (20.127.4-6) में उल्लेखित तीन मंत्र रैभी कहे गए हैं, जो राजा परीक्षित् की गाथा से सम्बद्ध हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि रैभी गान सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

गायक :

यजुर्वेद से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में गायक वर्ग विशेष रूप से अस्तित्व में था। गाने और अभिनय करने का कार्य शैलूष या नट वर्ग द्वारा किया जाता था। इनके साथ वाद्यवृन्द भी होता था, और ये धार्मिक अनुष्ठानों, उत्सवों तथा नाट्य प्रस्तुतियों में भाग लेते थे।

इसके अतिरिक्त मागध जाति को भी गायक कहा गया है। मागध चारण या भाट के रूप में राजा-महाराजाओं की वंशावली, वीरता और दानशीलता का वर्णन करते थे। यही मागध परम्परा आगे चलकर प्रशस्ति लेखन और चारण काव्य का आधार बनी।

इन परम्पराओं से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में संगीत और कविता केवल धार्मिक अनुष्ठान तक सीमित नहीं थे, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और लोकानुभव से भी गहराई से जुड़े हुए थे। यही गाथाएँ और गीत आगे चलकर भारत की चारण परम्परा, लोकगाथा और काव्य-नाट्य परम्परा की प्रेरणा बनीं।

नृत्य :

वैदिक साहित्य में नृत्य को केवल शारीरिक गति नहीं, बल्कि आनंद, अभिव्यक्ति और भावनाओं का समन्वय माना गया है। अथर्ववेद और यजुर्वेद में नृत्य के अनेक उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि उस समय नृत्य जीवन और संस्कृति का अभिन्न अंग था।

वैदिक ग्रन्थों में नृत्य के दो प्रमुख भेद बताए गए हैं—

(1) नृत्त :- यह वह नृत्य है जिसमें केवल आंगिक अभिनय (शरीर की गति, हाथ-पैरों का संचालन, लय) होता है, पर उसमें भावनात्मक तत्व नहीं होता। इसे 'भाव-शून्य नृत्य' कहा गया है।

(2) नृत्य :- इसमें भावपूर्ण अभिनय निहित होता है। इसमें नर्तक केवल शरीर नहीं, बल्कि मन, भाव, मुद्रा और रस के माध्यम से अर्थ व्यक्त करता है।

यजुर्वेद और अथर्ववेद दोनों में इन दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक समाज में नृत्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम था।

एक मंत्र में 'हस (हास्य) के साथ नृत्त' का उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि नृत्त में हास्य-विनोद और आनंद का समन्वय था। यही कारण है कि 'नृति' (नाचना) शब्द भी इस काल में प्रचलित था।

नृत्त के प्रदर्शन का कार्य प्रायः सूत (सारथि या वाचक वर्ग) किया करते थे। यह सूत केवल रथसंचालक नहीं थे, बल्कि गीत, कथा और नृत्य में निपुण कलाकार माने जाते थे।

अथर्ववेद में नृत्य का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। पृथिवी सूक्त में यह वर्णन है कि- ''मनुष्य आनन्द में मग्न होकर विविध रागों में गाते और नाचते हैं।''

इससे यह संकेत मिलता है कि उस समय नृत्य, गीत और वाद्य का एकत्रित प्रदर्शन होता था। विविध रागों में गाने वाले को 'व्यैलब' कहा गया है, जो उस समय के प्रशिक्षित गायक या नर्तक रहे होंगे।

एक अन्य मंत्र में मकान में चारों ओर घूमकर नाचने का वर्णन है, जिससे समूह-नृत्य या परिक्रामी नृत्य की परम्परा का संकेत मिलता है।

अथर्ववेद में दुन्दुभि (ढोल) को संबोधित करते हुए कहा गया है कि—

'हे दुन्दुभि! तू शत्रुओं के धन पर नाच।'

यह प्रतीकात्मक प्रयोग है, जो विजय और उल्लास की भावना को व्यक्त करता है। युद्ध या सफलता के समय नृत्य को उत्सव का अंग माना जाता था।

अथर्ववेद में यह भी कहा गया है कि स्त्रियाँ और क्लीब (नपुंसक या हिजड़े)

नाचते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि नृत्य केवल धार्मिक या वीर अवसरों तक सीमित नहीं था, बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा किया जाता था।

शोक के समय स्त्रियों द्वारा छाती पीटते हुए और खुली छाती के साथ नाचने का उल्लेख है, जो विलाप–नृत्य या शोक–नृत्य का एक रूप था। इस प्रकार नृत्य केवल आनंद का नहीं, दु:ख और संवेदना की अभिव्यक्ति का भी साधन था।

अथर्ववेद में मच्छरों के नाचने की उपमा हिजड़ों के नृत्य से दी गई है, जिससे उस समय की नाट्य–व्यंग्य परम्परा का संकेत मिलता है। यह उपमा नृत्य की लोक–धारा को भी उजागर करती है, जहाँ हास्य, व्यंग्य और सामाजिक भाव सब सम्मिलित थे।

अभिनय :

अथर्ववेद और यजुर्वेद के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में अभिनय, संगीत और नृत्य एक–दूसरे से गहराई से जुड़े हुए थे। अभिनय का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि भावों, विचारों और सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति था।

शैलूष (नट) :– यजुर्वेद में शैलूष (या नट) का उल्लेख स्पष्ट रूप से हुआ है। शैलूष को गाने वाला बताया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि वे संगीत और अभिनय दोनों में निपुण थे। वे न केवल संवाद और अभिनय करते थे, बल्कि स्वयं गीत गाकर पात्रों की भावनाएँ भी व्यक्त करते थे।

अथर्ववेद में संगीत और नृत्य का एक साथ उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि नाट्य रूप में अभिनय संगीत, नृत्य और संवाद इन तीनों कलाओं का संयुक्त प्रदर्शन था। इस प्रकार, वैदिक काल में नाट्यकला का बीज रूप में अस्तित्व पहले से ही विद्यमान था।

'कारि' : विदूषक या हास्य कलाकार :– यजुर्वेद में 'कारि' शब्द का उल्लेख विदूषक के रूप में मिलता है। उसका कार्य हँसाना, व्यंग्य करना और मनोरंजन करना था। कारि समाज में हास्य–रस उत्पन्न करने वाला पात्र था, जो सम्भवत: संवादों या भावभंगिमाओं के माध्यम से दर्शकों को आनंदित करता था। यह पात्र आगे चलकर संस्कृत नाट्यपरम्परा में 'विदूषक' के रूप में विकसित हुआ।

यजुर्वेद में अभिनय से जुड़े कुछ अन्य शब्द भी मिलते हैं, जिनसे इस काल के नाट्य और सामाजिक जीवन की विविधता का परिचय मिलता है—

(1) स्त्रीषख (स्त्री का मित्र) :– इसका अभिप्राय भांड़ या विदूषक समान व्यक्ति से है, जो हास्य और विनोद के कार्य में निपुण होता था। स्त्रीषख का कार्य मुख्यत: मनोविनोद और हँसी उत्पन्न करना था।

(2) कुमारीपुत्र :– इसे मनोरंजन के लिए रखा गया व्यक्ति कहा गया है।

'कुमारीपुत्र' अर्थात् अविवाहित स्त्री की संतान जो समाज में स्वतंत्र और निर्लज्ज मानी जाती थी। यजुर्वेद में कहा गया है कि ऐसी संतान निरंकुशता और निर्भीकता के कारण अभिनय में सहज निपुण होती थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि अभिनय-कला उस समय उच्च सामाजिक वर्ग द्वारा नहीं, बल्कि निम्नवर्गीय और स्वतंत्र प्रवृत्ति के लोगों द्वारा अपनाई जाती थी।

(3) रेभ (गायक, गवैया) :- अथर्ववेद में 'रेभ' को नर्मकृत्य (हँसी-मजाक करने वाला) बताया गया है। यह पात्र संभवतः गीत और हास्य के मिश्रण से अभिनय करता था — जैसे आज के गवैये या लोक नट।

(4) पुंश्चली (दुश्चरित्र स्त्री) :- इसे भी अभिनय के लिए उपयुक्त बताया गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज में उसे आदरणीय माना गया, बल्कि यह कि उसकी निडरता, चपलता और भावाभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अभिनय में सहायक मानी जाती थी।

इन सब वर्गों — कुमारीपुत्र, स्त्रीषख, रैभ और पुंश्चली को समाज के निम्न या लोकजीवन से सम्बद्ध माना गया है, किंतु इन्हीं वर्गों ने अभिनय और लोक मनोरंजन को वैदिक काल में जीवित रखा।

यजुर्वेद और अथर्ववेद में प्राप्त संदर्भों से स्पष्ट होता है कि उस समय अभिनय के तीन प्रमुख उद्देश्य थे—

(1) आमोद-प्रमोद (मनोरंजन) :— हास्य, विनोद और लोक-उल्लास उत्पन्न करना।

(2) अनुकरण (प्रदर्शन) :— मानव व्यवहार, देवकथाओं या वीरगाथाओं का प्रतीकात्मक अभिनय।

(3) सामाजिक और धार्मिक अवसरों का अंग :— यज्ञ, उत्सव या विवाहादि में अभिनय और नृत्य-संगीत का संयोजन होता था।

निष्कर्षतः अथर्ववेद और यजुर्वेद में प्राचीन भारतीय जीवन के मनोरंजन, कला और संगीत के विविध रूपों का उल्लेख मिलता है। इनमें गाथा, नाराशंसी, और रैभी जैसी गेय पद्य परंपराएँ थीं, जो धर्म, इतिहास और राजाओं की स्तुति से संबंधित थीं। इन पद्यों को गाने वाले गाथिन्, मागध और शैलूष (नट) कहलाते थे। अभिनय का कार्य भी शैलूषों का प्रमुख व्यवसाय था, जिसमें संगीत, नृत्य और हास्य का समन्वय होता था। विदूषक (कारि), स्त्रीषख, कुमारीपुत्र, रैभ और पुंश्चली जैसे पात्र लोकनाट्य के अंग थे।

इस प्रकार वेदकालीन समाज में संगीत, नृत्य और अभिनय केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि सामाजिक और धार्मिक जीवन का अभिन्न हिस्सा थे, जिनसे आनंद, शिक्षा और संस्कृति का प्रसार होता था।